

## इकाई की रूपरेखा

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 अनुभवजन्य उपागम
- 2.3 विषय-सामग्री (data) एकत्र करने के नियम
- 2.4 सांस्कृतिक सापेक्षवाद
- 2.5 विषय-सामग्री एकत्रित करने में आने वाली समस्याएँ
- 2.6 सामान्य बोध और विज्ञान के बीच अंतर
- 2.7 नैतिक क्या है?
- 2.8 प्रतिमानक (normal) क्या है?
- 2.9 एकत्रित विषय-सामग्री को समझना
- 2.10 सामाजिक शोध में विविधताओं का प्रयोग करना
- 2.11 अध्ययन के उद्देश्य को समस्या के रूप में रखना
- 2.12 निष्कर्ष
- 2.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

## अध्ययन के उद्देश्य

यह आशा की जाती है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिये निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देना सरल हो जाएगा।

- अनुभवजन्य शोध क्या है?
- नियमों को ध्यान में रखकर विषय-सामग्री कैसे एकत्रित करें?
- सांस्कृतिक सापेक्षवाद की अवधारणा की व्याख्या कैसे करें?
- विषय-सामग्री एकत्रित करते समय कौन-कौन सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?
- सामाजिक शोध में नैतिक और प्रतिमानक दृष्टिकोणों के मुद्दे कौन से हैं?
- एकत्रित किए गए तथ्यों को कैसे समझा जा सकता है।
- अध्ययन के उद्देश्य को समस्या के रूप में कैसे रखा जाये?
- सामाजिक शोध में विविधताओं का कैसे प्रयोग किया जाये?

## 2.1 प्रस्तावना

इकाई 1 में हमने समाज को समझने के बारे में विचारों तथा तार्किक समझ को प्रमुखता देने तथा अवलोकनीय तथ्यों पर आश्रित अनुभववाद के बीच तनाव की चर्चा की थी। जैसा कि इकाई 1 में उल्लेख किया गया है जिस सीमा तक समाजशास्त्रीय सिद्धांत सामाजिक जगत के प्रेक्षण पर आधारित होने चाहिए, उस सीमा तक हमें अनुभववाद को आधुनिक वैज्ञानिक विधि का केन्द्र मानना होगा। इकाई 5 और 6 में आपको फ्रांसिस बेकन (जीवन-काल 1561-1626), जॉन लॉक (जीवन-काल 1632-1704), जार्ज बर्कले (जीवन-काल 1685-1753) और डेविड ह्यूम (जीवन-काल 1711-1770) जैसे अनुभवजन्य शोध के समर्थकों के बारे में अधिक जानकारी हासिल होगी।



फ्रांसिस बेकन  
(1561-1626)

## 2.3 विषय-सामग्री एकत्र करने के नियम

दुर्खाइम (जीवन-काल 1858-1917) ने अपनी पुस्तक सोशियोलिजिकल मैथड (1964, 1895 में प्रथम बार प्रकाशित) में बताया कि विषय सामग्री को जैसे भी चाहें जहाँ कहीं भी, ऐसे-वैसे ढंग से एकत्रित नहीं करना चाहिए बल्कि सामग्री एकत्रित करते समय कुछ नियमों को ध्यान में रखना चाहिए। दुर्खाइम की दृष्टि में सामाजिक प्रतिरूपों (phenomena) के बाहरी अस्तित्व होते हैं और इन्हें मानस में बसे प्रतिरूपों से अलग रखना चाहिए। डेस्कार्ट (जीवन-काल 1596-1650) ने अपनी पुस्तक, मैडीटेशन ऑन फर्स्ट फिलोसोफी (1641 में प्रथम बार प्रकाशित, 1991 में अंग्रेजी अनुवाद का प्रकाशन) में, डेस्कार्ट ने शंका करने के साधारण नियम द्वारा वैज्ञानिक विधि की नींव रखी। उसने हर बात की सत्यता के बारे में संदेह करने की युक्ति (strategy) का समर्थन किया। इसी भाव के अनुसार, यह भी कहा जा सकता है कि सच्चे अर्थों वाले वैज्ञानिक उपागम में बिना प्रमाण के कुछ भी स्वीकार नहीं किया जाता। इस विचार के तहत आरामकुर्सी पर बैठे शोधकर्ता यदि किसी दूसरे द्वारा इकट्ठी की गई सामग्री को स्वीकार करें तो इसे उचित नहीं माना जाता है। वैज्ञानिकों द्वारा केवल वही सामग्री स्वीकार की जाती है जो स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक शोध पद्धति के लक्ष्यों के अनुरूप इकट्ठी की गई है। विषय सामग्री को एकत्रित करना और विषय को समझना अलग-अलग बातें नहीं हैं और वास्तव में विषय-सामग्री इकट्ठा करना वैज्ञानिक शोध पद्धति का एक अंग है। चर्चा का यह बिंदु हमें यह विचार करने की ओर ले जाता है कि अपने पूर्वाग्रहों से परे हमारे लिये यह कैसे संभव है कि हम निरपेक्ष (objective) रूप से सामग्री एकत्रित करें।



इमाइल दुर्खाइम  
(1858-1917)

## 2.4 सांस्कृतिक सापेक्षवाद

आत्मपरक जानकारी और पक्षपात से मुक्त होकर सामग्री को इकट्ठा करना चाहिए और वैज्ञानिकों को भावात्मक और नैतिक रूप से तटस्थ बने रहना चाहिए। सांस्कृतिक सापेक्षवाद का नियम इसी मानसिकता का परिणाम है। हमें यह मानना होगा कि जो हमारी अपनी संस्कृति में विद्यमान नहीं है, वह 'ग़लत' या 'अजीब' है – ऐसा कदापि नहीं है। 'नृजातिकेंद्रिकता' या अपनी अवधारणाओं और मूल्यों को ही सही मानने की भावना से ऊपर उठने का पाठ सामाजिक विज्ञान के सभी छात्र-छात्राओं को पढ़ाया जाता है परंतु ऐसा कर पाना सबसे कठिन काम है। मैं अपने क्षेत्रीय शोध के अनुभव को आपके सामने रखती हूँ। क्षेत्रकार्य के दौरान विद्यार्थियों के समूह के साथ राजस्थान के एक गांव में हमें मालूम चला कि इस क्षेत्र में जितने विवाह हुए हैं उनमें दुल्हन की उम्र दूल्हे से अधिक थी। एक व्यक्ति से बात करने पर पता चला कि उसकी पत्नी उससे उम्र में आठ वर्ष बड़ी थी और ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपनी पत्नी को अत्यधिक चाहता है। मैंने उससे बेवकूफी भरा एक प्रश्न पूछा जो हालांकि उस समय मुझे एकदम सटीक लगा था, "यहाँ महिलाएं अपने पतियों से उम्र में बड़ी क्यों होती हैं?" उस व्यक्ति ने हैरान होकर मेरी ओर देखा और मेरे प्रश्न के जवाब में मुझ से प्रश्न पूछा, "क्या आपके समुदाय में ऐसा नहीं होता?" और उसे यह बहुत अचरजपूर्ण लगा जब मैंने उसे बताया कि हमारे यहाँ लगभग सभी महिलाएं अपने पति से उम्र में छोटी होती हैं। उसकी हैरानगी ने मुझे आभास दिलाया कि हमारे मूल्य किस सीमा तक हम पर हावी रहते हैं और इनसे परे जाकर दूसरे लोगों को उनके मूल्यों के अनुसार समझ पाना कितना कठिन है। हमें अवश्य हमेशा ही अपनी संस्कृति की आम बातें सामाजिक न होकर 'प्राकृतिक' लगती हैं। इसी तरह मारग्रेट मीड (जीवन-काल 1901-1978) ने अपनी पुस्तक, सेक्स एंड टेंपरामेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसायटीज (1935) में पश्चिमी समाजों में 'प्राकृतिक' मानी जाने वाली नारीत्व और पुरुषत्व की सभी

धारणाओं का भंडाफोड़ किया है। मेरी अपनी कक्षा में छात्र-छात्राओं के बीच हंसी का फव्वारा छूट गया जब मैंने उन्हें बताया कि न्यू गिनी के एक क्षेत्र में सजे-धजे घुँघराले बालों वाले पुरुष कैसे वहाँ की सादी वेशभूषा वाली औरतों को रिझाने में लगे रहते हैं (देखें कोष्ठक 2.1)। न्यू गिनी के टकाम्बुली क्षेत्र के मीड के ये विवरण सही थे या नहीं परंतु इन्होंने 'क्या प्राकृतिक है' के मिथक को निश्चित रूप से पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया।

### कोष्ठक 2.1: मारग्रेट मीड द्वारा टकाम्बुली संस्कृति का अध्ययन

दिसंबर 1931 में मारग्रेट ने अरापेश का और बाद में मुडुगमोर और टकाम्बुली संस्कृतियों का अध्ययन करने के लिए न्यू गिनी की यात्रा की। मीड ने पाया कि अरापेश संस्कृति में



मारग्रेट मीड  
(1685-1753)

पुरुषों और महिलाओं को समान दर्जा दिया जाता था। यह संस्कृति अत्यधिक सरल प्रकार की थी। इसमें महिला और पुरुष दोनों सक्रिय रूप से बच्चों का लालन-पालन करते थे। दूसरी ओर, मुडुगमोर संस्कृति अत्यधिक उग्र थी। इस समुदाय के महिला और पुरुष क्षुद्र और लड़ाकू थे। बच्चों को अपनी सुरक्षा स्वयं करने के लिए छोड़ दिया जाता था और दोषपूर्ण लिंग वाले शिशुओं को मरने के लिए नदियों में बहा दिया जाता था। यह मारग्रेट के लिए एक अत्यधिक भयावह अनुभव था।

टकाम्बुली संस्कृति में, मारग्रेट ने पाया कि महिला-पुरुष की भूमिकाएं विपरीत थीं। महिलाएं फुर्तीली और जिंदादिल व उत्साहपूर्ण थीं जबकि पुरुषों पर घरेलू कामकाज का दायित्व था। ये सांस्कृतिक असमानताएं एक अन्य पुस्तक 'सेक्स एंड टेंपरामेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसायटीज' में प्रकाशित की गई थीं।

स्रोत: यह जानकारी [www.mnsu.edu/emuseum/information](http://www.mnsu.edu/emuseum/information) से उद्धृत है।

सामाजिक विज्ञान में दुर्खाइम ऐसी निरपेक्षता को लाना चाहता था, जिसके तहत बाहर से दिखने वाली विशेषताओं के अनुसार चीजों को पहचाना जा सके और एक प्रकार की गोचर वस्तुओं को वर्गीकृत किया जा सके। वर्गीकृत करने का महत्वपूर्ण आयाम था कि कैसे संस्था या लक्षण विशेष को परिभाषित किया गया था। केवल ऊपरी या सतही रूप से दृश्यमानता (visibility) को लेने पर संभव था कि गुण विशेष अदृश्य ही हो जाये। इस अर्थ में, बाहरी दृश्यमानता (external visibility) की परिभाषा बहुत सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए शुरु-शुरु के नृशास्त्री तथाकथित आदिम समाजों में राजनीतिक संस्था जैसी किसी चीज का पता नहीं लगा सके थे। लेकिन बाद में अपनी पुस्तक, अप्रीकन पोलिटिकल सिस्टम्स में फोर्टिस और इवंस प्रिचर्ड (1940; 6-7) ने दिखाया कि आदिम समाजों में नातेदारी जैसी सामाजिक संस्थाओं में राजनीति अन्तर्निहित होती है और उन्होंने राजनीति को प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि इसके प्रकार्यों से अस्मिता प्रदान की।

दुर्खाइम ने वर्गीकरण की प्रणाली को पहचानने का वैश्लेषिक कार्य अपने हाथ में लिया। अपने निबंध प्रिमिटिव क्लासीफिकेशन, में दुर्खाइम एवं मॉस (1963; प्रथम और 1903 में प्रकाशित) ने प्रौद्योगिकीय विशेषताओं के व्यावहारिक प्रारूपों और नैतिक या धार्मिक स्वरूप के प्रतीकात्मक वर्गीकरण में अंतर किया (देखें नीधम 1963: xi)। दुर्खाइम और मॉस के निबंध (अंग्रेजी में उदित) की प्रस्तावना के अंत में नीधम ने कहा, "अपनी सभी त्रुटियों के बावजूद दुर्खाइम और मॉस के निबंध की यह प्रमुख उपलब्धि है कि उन्होंने समाजशास्त्रीय शोध में 'वर्गीकरण' की विश्लेषणात्मक धारणा को जन्म दिया।

## 2.5 विषय-सामग्री एकत्रित करने में आने वाली समस्याएँ

यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक उपागम (और सामाजिक वैज्ञानिकों का उपागम भी) यह है कि किसी चीज को उसके अन्तर्जात गुणों के आधार पर स्वीकार किया जाये न कि उससे जुड़े विचारों के आधार पर। लेकिन सामाजिक विषय-सामग्री के बारे में अब यह

साथ में उन्हें ऐसे विषयों का भी अध्ययन करना होता है जो न ही प्रतिमानक हैं और न ही नैतिक। क्या नैतिक है और क्या प्रतिमान है – इसकी सुस्पष्ट परिभाषा देना आसान नहीं है। आइए, पहले नीतिशास्त्र (नैतिकता या आचरण से संबंधित) के मुद्दे पर चर्चा करें और फिर प्रतिमानक मुद्दों को लें।

## 2.7 नैतिक क्या है?

समाज में हर चीज़ एक ही विन्यास का अनुसरण नहीं करती। सामाजिक वैज्ञानिक का काम वास्तविक मानव व्यवहार और गतिविधियों का अवलोकन करना है। क्या गलत है और क्या सही – इसके बारे में हमेशा ही कुछ न कुछ अंतर पाये जाते हैं। हमने पहले चर्चा की है कि एक वैज्ञानिक ही है जो नैतिक पक्षपात से परे होता है। इसका अर्थ है कि अपनी मूल्य पद्धति से सही या गलत का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इसके लिये हमें सार्वभौमिक प्रसंगार्थ (referent) की ज़रूरत होती है। खुशहाल जीवन हेतु स्वास्थ्य, आयु आदि की विश्वव्यापी कसौटियों का होना परमावश्यक है जिनके आधार पर सही/गलत का निर्णय किया जा सके। लेकिन इस प्रश्न ने सामाजिक विज्ञान को आक्रान्त किया हुआ है। कौन से मानदंड से हम नैतिकता या आचारनीति की सर्वव्यापी संहिता (code) निर्मित करें? नृजातिकेंद्रिकता की बहुचर्चित की भावना का सांस्कृतिक सापेक्षवाद के विचार से कैसे सामंजस्य बिठाया जाये? उदाहरण के लिए नृशास्त्रियों को प्रायः दोषी ठहराया जाता है कि उन्होंने तो मानव बलिदान और शिशुहत्या सहित समाज विशेषों में पाए जाने वाले प्रत्येक रीति-रिवाज को सांस्कृतिक सापेक्षवाद की छाया में सही ठहरा दिया है। यह अभी भी बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह खड़ा करने वाला मुद्दा है कि जब कोई चीज़ हमारी अपनी संस्कृति की न हो तो हम उसे कैसे सही या गलत ठहरायें। बार्न्स ने (1979:2) इस विचार को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है,

प्राकृतिक वैज्ञानिक का बौद्धिक कार्य अत्यधिक सरल होता है क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से उसकी विषय-सामग्री ठोस और विश्वसनीय होती है। वैज्ञानिक तथा उसके शोध के विषय वाली प्राकृतिक गोचर वस्तुओं के बीच काफी अंतराल होता है। दूसरी ओर सामाजिक वैज्ञानिकों को काफी अविश्वसनीय तथा अस्पष्ट विषय-सामग्री के साथ काम करना होता है। इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक वैज्ञानिक का अपने अध्ययन की विषय-सामग्री से दो तरफ़ा संबंध होता है। जिन लोगों से सामाजिक वैज्ञानिकों की विषय-वार्ता होती है, वे लोग सामाजिक वैज्ञानिक से बहस-मुबाहसा करते हैं। यदि हम काम की दृष्टि से भौतिकविदों या रसायनविदों से सामाजिक वैज्ञानिकों की तुलना करें, तो कहना होगा कि प्राकृतिक वैज्ञानिकों से कहीं अधिक सामाजिक वैज्ञानिकों का काम काफी दुष्कर होता है। निश्चित रूप से प्राकृतिक विज्ञान की तुलना में सामाजिक विज्ञान ने अब तक जो थोड़ी बहुत सफलता हासिल की है, इससे भी पता लगता है कि सामाजिक विज्ञान का अध्ययन सचमुच बड़ा कठिन है। इस कठिनाई का सबसे बड़ा हिस्सा नैतिकता या आचारशास्त्र से सम्बद्ध समस्याएं हैं।

नीति विषयक सवाल प्राकृतिक विज्ञानों के संदर्भ में भी उठते हैं। उदाहरण के लिए व्यापक विनाश और आनुवंशिक इंजीनियरी के हथियारों से जुड़े नैतिक प्रश्नों से हम सभी परिचित हैं। लेकिन जैसा कि लाज़लों और विलबर (1970) ने बताया जब वैज्ञानिक खोजों ने मानवजाति को प्रभावित किया तो बाद में प्राकृतिक विज्ञान के बारे में नैतिकता के प्रश्न उठाए गए हैं। अन्यथा भौतिकशास्त्र के सिद्धांतों में कहीं भी मानव नहीं शामिल हैं। इस स्थिति के विपरीत सामाजिक विज्ञानों में हमारी चर्चा हर समय मानवजाति से ही जुड़ी होती है और इसीलिए सामाजिक विज्ञानों में हमें निरंतर आचारशास्त्र से जुड़े प्रश्नों का सामना करना पड़ता है और उनकी उपेक्षा करना संभव ही नहीं है।

समझ में आ चुका है। के व्याख्याओं अथवा भावार्थों के बिना प्रेक्षण या केवल अंतर्जात गुणों की पिपासा केवल एक मृगमरीचिका या दृष्टिभ्रम है। समाज के बारे में प्रत्येक चीज संस्कृति या मानवों द्वारा प्रदान किए गए अर्थ-तंत्र का अनुसरण करती है। उदाहरण के लिए नारीत्व, पुरुषत्व इत्यादि जैसी अवधारणाएं समाज के अर्थ-तंत्र (meaning system) का एक हिस्सा हैं। कई ऐसे समाज हो सकते हैं जहाँ इन शब्दों का एक अर्थ हो और दूसरे समाजों में इनका अर्थ बिल्कुल ही अलग हो।

आत्मपरकता (subjectivity) का भी प्रश्न उठता है कि प्रेक्षणकर्ता की तरह किस सीमा तक निरपेक्ष हो पाना संभव है जबकि जो हमारे सामने जो हो रहा है उससे मानव होने के नाते हमारे अंदर तीव्र भावनाएं पैदा होती ही हैं। सामाजिक विज्ञान में अभी तक इस प्रश्न का पूर्णतया समाधान नहीं हो पाया है। निश्चित रूप से अनेक सामाजिक विज्ञानियों ने तटस्थता को तिलांजलि दे दी है और ऐसे कई विद्वान सक्रियताकारी विद्वान हैं जो मानवीय संस्थाओं के बारे में तटस्थ और भावहीन होने को नैतिक रूप से गलत मानते हैं। ऐसे विद्वानों का मानना है कि मानवाधिकार जैसी सार्वभौमिक अवधारणा के आधार पर सर्वव्यापी मानदंड निर्धारित करना संभव है और जिन स्थितियों में हमारी प्रेक्षक की भूमिका है, उनमें इन मानदंडों के सहारे हस्तक्षेप किया जा सकता है। प्रायः सामाजिक वैज्ञानिकों को सलाहकार या परामर्शदाता के रूप में बुलाया जाता है या विकास अध्ययनों में विशिष्ट प्रयोजन के लिये समाज विज्ञानी को हस्तक्षेप का अवसर मिलता है। लेकिन कब हस्तक्षेप करें और कब न करें – इस मुद्दे पर वाद-विवाद कभी भी समाप्त नहीं हो पाया है।

## 2.6 सामान्य बोध और विज्ञान के बीच अंतर

यदि अंतिम विश्लेषण में हमें 'सामाजिक' को समझने के लिए प्रत्यक्ष बोध पर निर्भर रहना है तो मुख्य प्रश्न उठता है कि संवेदी (sensory) का प्रयोग कितनी सतर्कता के साथ करें ताकि किसी भी विचार का निर्माण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से परे जा कर नहीं हो पाये। सामान्य बोध और विज्ञान के बीच मूल अंतर को समझने में यही बात प्रमुख है। प्रायः सामान्य बोध उस ज्ञान पर आधारित होता है जिसमें कार्य-कारण के वैज्ञानिक संदर्भ का नितान्त अभाव होता है। प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों में सतही समरूपता के होने या न होने को महत्व नहीं दिया जाता है। उनमें अंतर्निहित कार्य-कारण पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। वैज्ञानिक का काम है कि वह गोचर वस्तुओं की एकल अभिव्यक्तियों से परे उन्हें व्यापक रूप से देखे, पहचाने और वर्गीकृत करे।

सामाजिक जगत के बारे में आम लोगों के मनो में बसी भ्रमात्मक धारणाओं को सामने लाने में सामाजिक विज्ञान में हुए शोध के महत्वपूर्ण योगदान पर हमें विचार करने की ज़रूरत है। ऐसे विचार अक्सर पूर्वाग्रहों के रूप में व्यक्त होते हैं और अनावश्यक सामाजिक संघर्ष का स्रोत बन जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सामाजिक विज्ञान में हुए शोध के निष्कर्ष सामान्य बोध से मेल खाते हों और तब ऐसा लगता है कि सामाजिक वैज्ञानिकों ने समाज की यथार्थ के बारे में सामान्य बोध की दृष्टि से चर्चा की है क्योंकि प्रायः उनके शोध के निष्कर्ष रोजमर्रा के ज्ञान-भंडार का एक अभिन्न हिस्सा बन जाते हैं। हमने 'राजनीतिकी' का उदाहरण पहले ही लिया था। यह दर्शाया जा सकता है कि जहाँ तक राजनीति का प्रकार्य शक्ति का प्रयोग या शक्ति-विभेदों के बारे में परक्रामण (negotiate) करना है, तो यह काम उन संस्थाओं और तंत्र के माध्यम से हो सकता है जिन्हें सामान्यतः परिवार, नातेदारी या धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में मान्यता मिली होती है। साथ में हमें यह भी स्पष्ट कर देना होगा कि सामाजिक विज्ञानी को सामाजिक यथार्थ के बारे में मिथ्यात्वपूर्ण भ्रांतियों को दूर करने के काम से परे जाना होता है। सामाजिक विज्ञानियों के सामने ऐसे कई जटिल मुद्दे हैं जो दिन-ब-दिन के, बड़े स्पष्ट और खूब जाने-पहचाने हैं।

करता है। हमारे सामने काम है कि यह निर्णय लें कि क्या प्रतिमानजन्य है और क्या विकृतिपूर्ण (pathological) है। दुर्खाइम (1964; 47-75) के अनुसार प्रतिमानक (normal) क्या है - इसका निर्णय लेना एक ऐसे तर्क का विषय है जिस पर सामाजिक विज्ञान की आधारशिला कायम है। सामाजिक विज्ञान शोध के प्रारंभिक चरण में यह मान लिया गया था कि हर समाज सजातीय (homogenous) होता है उसमें समान प्रकार के मूल्य तथा प्रतिमान होते हैं। लेकिन धीरे-धीरे यह महसूस किया गया कि ऐसा समाज तो केवल नृजातिविवरणशास्त्रियों का स्वप्न मात्र था। यथार्थ के जगत में ऐसा कोई मानव समाज नहीं है जिसमें विभेद न हों और इसका अभिप्राय है कि सम. ज. के भिन्न-भिन्न वर्गों के भिन्न-भिन्न मूल्य और नजरिए हो सकते हैं। महिलावादियों और तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्यों के उभरने से सामाजिक विभेदों की उपस्थिति अधिक स्पष्ट होकर सामने आई है। धीरे-धीरे सामाजिक विज्ञान के पाठकों को यह स्पष्ट हो गया है कि जिसे प्रतिमानक और नियमित चित्रित किया जाता रहा था वह समाज के केवल एक वर्ग पर लागू होता था। प्रायः यह चित्रण केवल पुरुषों की दुनिया के लिये ही सटीक था (देखें कोष्ठक 2.2, वीनर द्वारा पुनः अध्ययन (1976 और 1977))।

**कोष्ठक 2.2: ऐनट बी. वीनर द्वारा पुनः अध्ययन (1976 और 1977)**

एक महिला नृशास्त्री, ऐनट बी. वीनर (1976 और 1977 में) द्वारा मालिनोस्की के क्षेत्र, ट्रोब्रिएंड द्वीपों का पथप्रदर्शक पुनः अध्ययन दर्शाता है कि मालिनोस्की ने जिसे सारे ट्रोब्रिएंड समाज के सत्य के रूप में चित्रित किया था वह केवल वहाँ के पुरुष जगत के लिए ही सत्य था। महिला जगत को तो पूरी तरह से छोड़ ही दिया गया था जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न हो। लेकिन यथार्थ में महिला जगत था और इन द्वीपों के जीवन का वह महत्वपूर्ण आयाम था।

इन विचारों के चलते सैद्धांतिक अवस्थिति में अनेक बदलाव सामने आए। ऐसे बदलावों में एक "बहुसंस्कृतिवाद" है जो अब एक देश से दूसरे देश में जाकर बसने वाले लोगों के विश्वव्यापी गमनागमन के संदर्भ में सामाजिक शोध का एक महत्वपूर्ण आयाम बन गया है।

आइए, अब समाज के वैज्ञानिक अध्ययन और उसमें निहित पूर्वाग्रहों एवं स्पष्टीकरणों पर पुनः ध्यान दें। प्रारंभ में, विकासवादी सामाजिक वैज्ञानिकों का पूर्वाग्रह था कि प्रतिमानक (normal) को तय करने के लिये सार्वभौमिक प्रसंगार्थ पाना संभव था और उनका यह भी मानना था कि ऐसा कुछ है जो विकृतियों की तुलना प्रतिमानक है। प्रतिमानक तय करने की विधि सांख्यिकीय (statistical) हो सकती थी, किंतु अन्ततः जैसा कि दुर्खाइम (1964; 53-54) ने अनुभव किया था कि हमें निगमनात्मक तर्क का ही सहारा लेना होगा।

एक प्रतिमानक सामाजिक प्रतिरूप (phenomenon) को देखने का एक तरीका था कि मानव जाति के विभिन्न समाजों में इसके वितरण का पता लगाया जाये। अभिव्यक्तियों की भिन्नताओं के बावजूद यदि एक प्रकार का प्रतिरूप अधिकांश समुदायों में पाया जाये तो इसे प्रतिमानक के रूप में लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, लगभग सभी मानव समाजों में छोटे-छोटे समूह होते हैं जिन्हें परिवार कहा जा सकता है। इस प्रकार परिवार को चाहे वह किसी भी रूप में हो, प्रायः सभी मानवीय समाजों का प्रतिमानक कहा जा सकता है। इस संस्था का किसी समाज में न होना या भंग हो जाना विकृति का चिन्ह होता है। इस बात से भी यही स्पष्ट होता है कि यदि विभिन्न समाजों में प्रतिमानकता को संदर्भ विशेष में रखकर ही देखा जाये तो प्रतिमानकता की कोई निरपेक्ष व बाह्य दशाएँ नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त स्थान विशेष में प्रतिमानकता का वितरण देखते हुए हमें साक्षात् विषय का कालपरक वितरण भी देखना होगा। जो एक काल विशेष में प्रतिमानक की तरह देखा जाये वह जरूरी नहीं है कि दूसरे काल में भी वैसा ही समझा जाये। उदाहरण के

अपने चारों ओर की सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन करने हेतु आचार-शास्त्र से जुड़ी समस्याओं को समझने के लिए सोचें और करें 2.1 को इस बिंदु पर पूरा करना एक अच्छा विचार प्रतीत होता है।

### सोचें और करें 2.1

थापन (2004:253) ने 1981 में ऋषि वैली स्कूल में क्षेत्र कार्य किया एवं उस काम पर आधारित थापन के एक लेख से लिया एक उद्धरण नीचे दिया गया है। इसे आप ध्यानपूर्वक पढ़ें। थापन के क्षेत्रीय कार्य में आई कठिनाइयों के स्वरूप को पहचानिये।

‘सहभागियों को धोखा न देना एवं शोध-क्षेत्र में उनके सद्भाव और विश्वसनीयता को न खोना’ और ‘नृजातिविवरणशास्त्री में पैदा हो गये उनके विश्वास और भरोसे को मानव अर्थों में धोखा देना संभव ही नहीं है’ – इन संदर्भों वाले नीचे दिए उद्धरण में नैतिक तथा आचारशास्त्रीय दोनों पहलुओं पर चर्चा की गई है। इस उद्धरण पर आप चर्चा करें तथा अपनी चर्चा के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर एक अलग पृष्ठ पर लिखें।

### थापन (2004:253) से लिया गया उद्धरण

नृजातिविवरणशास्त्री (ethnographer) को ही सहभागियों के सहयोग से निष्कर्ष प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और इसके लिए उसे वार्तालाप करने के लिए पहल करनी पड़ती है, लोगों से हँसी-मजाक करना पड़ता है और गुप्त एवं बाधित जानकारी पाने के लिये वैकल्पिक युक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। इसमें विभिन्न प्रकार के सहभागियों के सामने भिन्न-भिन्न रूपों में अपने आपको प्रस्तुत करना पड़ता है जैसा कि मैंने स्वयं को समुदाय द्वारा स्वीकार कराने के लिए किया और इस तरह मैंने अपने को गुप्त जानकारी पाने का पात्र बनाया। सहभागियों के साथ सफल हो पाना नृजातिविवरणशास्त्री की इस क्षमता पर निर्भर करता है कि वह अंतःक्रिया इस तरीके से करे कि जो विश्वास और भरोसा पैदा कर सके। कुछ सहभागी अंतःक्रिया करने के लिए मना भी कर सकते हैं और नृजातिविवरणशास्त्री के पास कोई शक्ति नहीं है जिससे उन्हें अंतःक्रिया में भाग लेने के लिए विवश किया जा सके। एक बार मित्र और जानकारी प्रदान करने वाले बन गये लोगों से जब नृजातिविवरणशास्त्री को जानकारी मिल जाती है तब शक्ति का संतुलन सहभागियों की दिशा से नृजातिविवरणशास्त्री की दिशा की ओर चला जाता है और ऐसी अवस्था में नृजातिविवरणशास्त्री किसी भी वांछित तरीके से जानकारी का प्रयोग करने के लिये स्वतंत्र है।

### प्रश्न

- ‘क्षेत्र में मुझे जानकारी देने वालों’ की भावनाओं को आदर देने के कारण शोध से प्राप्त कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों को न देना क्या सही है?
- क्या शोधकर्ता के पास वस्तुतः इस प्रकार की शक्ति होती है कि वह जानकारी देने वालों से मिली संवेदनात्मक और महत्वपूर्ण जानकारी का किसी भी वांछित तरीके से प्रयोग करे?
- क्या व्यवहारिक, नैतिक एवं मानवीय पहलुओं से नृजातिविवरणशास्त्री द्वारा शोध से प्राप्त सामग्री का उपयोग निर्धारित होता है?

शैक्षिक परामर्शदाता से अनुरोध है कि वह सामाजिक शोध के आचारशास्त्रीय और नैतिक मुद्दों पर वाद-विवाद आयोजित करें और छात्र-छात्राओं को इस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करें। साथ में चर्चा को ज्ञानवाणी पर प्रसारित करने के लिए रिकार्ड करने हेतु प्रयास करें।

## 2.8 प्रतिमानक क्या है?

सामाजिक जगत का अध्ययन करने का एक अन्य आयाम इस बात से जुड़ा है कि कौन सा प्रतिमानजन्य व्यवहार है जो मानकी/नियमित/सामान्य/विशिष्ट विन्यास को पुष्ट

लिए आधुनिक विश्व में 'परिवार' शब्द का अर्थ एकल अभिभावक वाले परिवार या समलिंगी माता-पिता वाले परिवार को भी सूचित करता है; निश्चित रूप से ऐसे परिवारों को कुछ दशकों पहले तक विकृतिपूर्ण माना जाता था। दुर्खाइम के समय में, उद्विकास (evolution) की अवधारणा से समय और स्थान दोनों की दृष्टि से परिवर्तनशीलता का वर्णन किया जाता था लेकिन आज इतिहास ने उद्विकास का स्थान ले लिया है, और एक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रगति को अब रूपांतरण की आंतरिक क्रिया-विधि के रूप में नहीं देखा जाता। वस्तुतः जैसे स्थान के संदर्भ में सांस्कृतिक सापेक्षता को समझा था, उसी तरह अब समय के संदर्भ में भी सांस्कृतिक सापेक्षता को समझा जा सकता है। भले ही हम भूतकाल में घटी और भविष्य में घटने वाली बातों के बारे में निरपेक्ष हो सकें। किंतु जो वर्तमान में घटित हो रहा है उसके बारे में निरपेक्ष हो पाना मनुष्य के बस की बात नहीं है। सामाजिक विज्ञान में मानवीय आत्मपरकता की स्वीकृति ने अन्ततः आधुनिकोत्तर सिद्धांत के उदय को प्रोत्साहन दिया है, इसके बारे में आपको पुस्तक 1 की आगामी इकाइयों में पढ़ने का अवसर मिलेगा।

दुर्खाइम (1964: 54) ने जिस तार्किक प्रतिमानकता के बारे में कहा था, उसकी आलोचना करते हुए उसे विशिष्ट प्रेक्षक तर्क कहा गया। लेकिन दुर्खाइम ने सावधानीपूर्वक कॉम्टे जैसे अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित उद्विकास के सार्वभौमिक नियम का विरोध करने के लिए 'सांस्कृतिक सापेक्षवाद' की विद्यमानता की चर्चा की थी। दुर्खाइम ने चतुराईपूर्वक प्रतिरूप के अस्तित्व के कारण को उसके प्रकार्य से अलग किया। इस प्रकार की हेतुविद्या (teliology) ने आगे आने वाली पीढ़ी के प्रकार्यवादियों को बहुत प्रभावित किया। चर्चा में इस बिंदु से यह सवाल भी उपजता है कि शोध के दौरान एकत्रित तथ्यों का अर्थ कैसे निकाला जाये।

## 2.9 एकत्रित विषय-सामग्री को समझना

सामाजिक विज्ञान के छात्र-छात्राओं के लिये अनुभवजन्य उपागम का अर्थ है विषय-सामग्री एकत्रित करना जिसका सैद्धांतिक विश्लेषण किया जा सके। जब प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के बीच सादृश्यता पर बल दिया जाता था उस समय वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए कुछ प्रकार की विषय-सामग्री को अनुपयोगी मान लिया जाता था। उदाहरण के लिए पर्यटकों और मिशनरियों द्वारा एकत्रित सामग्री को रद्द कर दिया गया, ऐसे ही तर्क के आधार पर ऐतिहासिक सामग्री को भी रद्द किया गया। ऐसी सामग्री की विश्वसनीयता को स्वतः सिद्ध नहीं माना जा सकता था। यह एक पूर्वधारणा थी कि समाज को एक प्रकार्यात्मक निकाय के रूप में देखा जा सकता था और समाज की प्राकृतिक अवयव-संस्थान (organism) के प्रकार्यात्मक जैसे शाश्वत नियमों की भाषा में व्याख्या की जा सकती थी। सामाजिक व्यवस्था का विचार एक ऐसी अवधारणा थी जिससे कई चीजों की व्याख्या की जा सकती थी। इसी प्रकार प्रणाली (system) और संतुलन (equilibrium) की अवधारणाएं भी थीं। केवल वही सामग्री विश्वसनीय थी जिसे प्रशिक्षित सामाजिक विज्ञानियों ने स्वयं शोध क्षेत्र में एकत्रित किया हो।

तुलना के उद्देश्यों के लिए भी वैध रूप से, केवल अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों के शोध-कार्यों की चर्चा मान्य थी। अन्य आम व्यक्तियों तथा इतिहासकारों के शोध-कार्यों का उल्लेख मान्य नहीं था। साथ में, जैसे-जैसे अधिक संख्या में 'प्रेक्षक' क्षेत्र में प्रवेश करने लगे यह स्पष्ट हो गया कि 'निर्व्यक्तिक' (impersonal) प्रेक्षक की भूमिका लगभग एक मिथक ही थी। मार्गरेट मीड और डेरेक फ्रीमैन के बीच समोआ से प्राप्त सामग्री के ऊपर होने वाली आवेशपूर्ण बहस इस बारे में एक प्रासंगिक उदाहरण है (देखें क्लूस 2004: 140)।



संघर्ष (conflict) सिद्धांतवादियों के प्रवेश ने संतुलन और सामाजिक व्यवस्था की अवधारणाओं के आधार पर बने सिद्धांतों के समक्ष चुनौती खड़ी कर दी। उत्तरोत्तर यह महसूस किया जाने लगा कि प्रेक्षक का अवलोकन अचेतन और 'आंतरिक' विश्लेषण की उसी समय चल रही प्रक्रिया के अनुसार ही होता है।

इतिहास की अवहेलना करना भी एक मुद्दा बन गया क्योंकि यह सुस्पष्ट हो गया कि कोई भी समाज बिना इतिहास के नहीं होता। प्रेक्षक की आत्मपरकता (subjectivity) पर काबू पाने के लिए ऐतिहासिक दस्तावेज, जीवन वृत्त, आख्यान और जिनका प्रेक्षण किया जा रहा है उनके कथन भी प्रेक्षित सामग्री के बड़ा हिस्सा बनते चले गए। वैज्ञानिक प्रेक्षण की प्रक्रिया में 'तर्क' के बजाय अंतर्दृष्टि की भूमिका को अधिक मान्यता प्राप्त होने लगी (देखें कोष्ठक 2.3 अंतःप्रज्ञात्मक बोध पर डैन स्पर्बर की टिप्पणी)।

**कोष्ठक 2.3: अंतःप्रज्ञात्मक बोध पर डैन स्पर्बर की टिप्पणी**

स्पर्बर (1982) ने कहा कि क्षेत्र में अर्जित ज्ञान को डायरियों, फिल्मों, रिकार्ड किए गए साक्षात्कारों, भरी गई अनुसूचियों, मानचित्रों, ऐतिहासिक दस्तावेजों, जीवन वृत्तों, चित्रों और वंशावलियों की तरह ढेर सारी सामग्री के रूप में घर लाया जाता है। लेकिन इसके साथ-साथ शोधकार को शोध क्षेत्र में वहाँ की संस्कृति से हुए दीर्घकालिक संपर्क से अंतःप्रज्ञात्मक बोध भी प्राप्त होता है।

यह मान लिया गया है कि अंतःप्रज्ञात्मक (intuitive) बोध प्राप्त करने के लिए शोधकर्ता को उन लोगों या स्थितियों के बीच काफी समय बिताना होगा जिनका उसे अध्ययन करना है। शोधकार्य पूरा होते-होते तक तथ्यात्मक या भौतिक सामग्री के साथ-साथ यह संभव है कि उसे समानुभूतिपरक बोध भी मिल जाए जिसके माध्यम से वह उन लोगों की आँखों से दुनिया को देखना, समझना शुरू करे जिनके साथ उसने इतना लंबा समय गुजारा है। जो बातें शुरू में अजीब लगती थीं अब वे समझ में आने लगती हैं। सामग्री प्रस्तुत करते समय सामाजिक वैज्ञानिक को अपनी सामग्री अवधारणात्मक बोध के उस सामान्य स्तर पर ढालनी होती है जो समाजशास्त्र में सभी को मान्य हो। इस तरह विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत स्तर पर अर्जित अंतःप्रज्ञात्मक बोध और एकत्रित सामग्री की व्यापक व्याख्या के बीच का मध्यम मार्ग पकड़ना होता है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि मात्र सामग्री का एकत्रीकरण या प्रेक्षण ही बोध के उद्देश्य को पूरा नहीं करता। अच्छे काम और मामूली काम के बीच निर्णायक अंतर करने वाला तथ्य है अंतःप्रज्ञात्मक बोध का वह स्तर जिसे एक शोधकर्ता ने एकत्रित की गई सामग्री में जोड़ा है।

विश्लेषण के लिए सामग्री के एकत्रीकरण का एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि भरसक प्रयास करने के बावजूद क्षेत्र स्थिति में प्रत्येक वस्तु को देखना और प्रेक्षण करना किसी के लिए भी संभव नहीं है। जिन शोधकर्ताओं ने अपने कार्य के वैज्ञानिक और निरपेक्ष स्वरूप में विश्वास किया उन्होंने विशिष्ट से व्यापक के लिए लागू होने वाला भावार्थ निकाला और निष्कर्षतः कहा कि संसार में समरूपी (homogenous) समाज विद्यमान था। इस अर्थ में, शोध से निकले निष्कर्ष पूरे समाज के लिए समग्र रूप में लागू किए जाते थे। काफी हद तक इस विधि का आज भी पालन किया जाता है। लेकिन अब समूहों और संस्कृतियों के बीच पाई जाने वाली विभिन्नताओं को पहचानने के लिए प्रयास भी हो रहे हैं। इसलिए, वह प्रत्येक विन्यास जिसमें एक निर्धारित प्रतिमान का पालन होता हो उसे विकृतिपूर्ण न मानकार विभिन्न माना जाता है। सांख्यिकीय आवृत्ति (frequency) की अक्सर प्रयुक्त की जाने वाली विधि से भी सदैव ऐसे परिणाम नहीं निकलते जो स्थिति का सही प्रतिनिधित्व

करते हैं। सांख्यिकीय आवृत्ति से अक्सर केवल ऐसे परिणाम निकलते हैं जिसके कारणों का पता अधिक गुणात्मक और अंतःप्रज्ञात्मक - निगमनीय विश्लेषण से ही लग पाता है।

आइए, लिंग दर से संबंधित सांख्यिकीय सामग्री को उदाहरण के तौर पर लें। मात्र यह कहना कि भारत की जनसंख्या में महिलाओं की कमी हो गई है हमें यह नहीं बताता कि भारत के पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं को किस तरह उपेक्षित करके नगण्य दर्जा दिया गया है। इसके अलावा कार्य-कारण का पता लगाने का प्रयास भी हमें उसी प्रतिरूप (phenomenon) के एक से कारणों की ओर नहीं ले जाता, जैसे उदाहरणार्थ देखें कि बालिकाओं और वयस्क महिलाओं की उपेक्षा तथा जानबूझ कर की गई हत्या के भी अनेक गहराई तक जमे और तात्कालिक कारण होते हैं और ये सभी परंपराओं से उत्पन्न नहीं होते। वस्तुतः भारत जैसे-जैसे अधिक आधुनिक और सार्वभौमिक होता जा रहा है उसकी लिंग दर (sex ratio) में चिंताजनक गिरावट आ रही है। इसको देखकर अनेकों विद्वानों को यह समझ में आया है कि इस गिरावट का कारण अतीत में नहीं बल्कि वर्तमान में ही निहित है।

अधिकांश समाजों में, चाहे वे कितने ही छोटे और सीमित हों अनेकों मत पाए जाते हैं। रोजमर्रा की जिंदगी में लोग पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य नहीं करते। प्रतिमानकों को अक्सर शब्दों में व्यक्त किया जाता है लेकिन व्यवहार में उसका पालन नहीं होता। जैसा कि बार्थ (1987) ने अपनी पुस्तक, कॉस्मोलॉजीज़ इन द मेकिंग, में दर्शाया है कि प्रतिमानकों में भी निरंतर हेरफेर और परिवर्तन किया जाता रहा है, जिसके पास मौखिक ज्ञान का भंडार है उसके पास इसको परिवर्तित करने के साधन भी होते हैं। इस भाँति मौखिक परंपराएं जब एक से दूसरे मुँह में और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ियों में जाती हैं और एक क्षेत्र तथा समय से दूसरे में यात्रा करती हैं तो उनका रूप बदल जाता है। विषयांतर की क्रिया का एक अन्य कारण मात्र व्यक्तिगत सुविधा या आपात्कालीन जरूरत हो सकता है। हममें से कौन नहीं दैनिक जीवन के कार्यों और अनुष्ठानों और यहाँ तक कि जीवन चक्र की गतिविधियों जैसे विवाह आदि में ऐसे 'समायोजनों' (adjustments) से परिचित है? तीसरे प्रकार का मौखिक ज्ञान में बदलाव सोद्देश्य भी हो सकता है यानी विद्रोह या अवज्ञा की क्रिया से बदलाव हुआ हो। ऐसे आचरणों का संस्कृति विरोध लेबल के अंतर्गत अध्ययन किया गया है। अक्सर ऐसा संस्कृति विरोध समाज के उपेक्षित समूहों जैसे महिलाओं और सुविधावंचित लोगों के प्रतिघाती व्यवहार के संदर्भ में होता है।

## 2.10 सामाजिक शोध में विविधताओं का प्रयोग करना

सामाजिक शोध के लिए सामग्री एकत्रित करते समय हमारे लिये यह पहचान लेना जरूरी है कि विविधताओं को स्वीकार कर उनके माध्यम से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है उसके संदर्भ में सामग्री की व्याख्या करनी है। सामाजिक विज्ञान प्रेक्षण में काफी समय लगता है और सामग्री इकट्ठा करने में श्रमसाध्य ईमानदारी की अपेक्षा होती है। सामाजिक तथ्यों की वास्तविक समझ प्राप्त करने हेतु दूसरा सुगम मार्ग नहीं है क्योंकि सभी सामाजिक तथ्य जटिल होते हैं और इनके अनेक कार्य-कारणभाव और प्रभाव होते हैं। होम्सवुड और स्टुअर्ट (1991) ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब सामाजिक विज्ञानों में व्याख्याएं समस्यामूलक होने लगे तो जरूरी है कि उनकी अवहेलना करने या उन्हें त्याग देने की बजाय हम उनके अस्तित्व को मानें। इसके अलावा सांगोपांग व्याख्या की खोज करना ही भ्रामक है और हमें स्वीकार करना है कि सृजनात्मक होने के साथ-साथ लोगों को अभिव्यक्तिकरण की स्वतंत्रता होती है अतः यतांतर होना अनहोनी बात नहीं है। यहाँ कहने का यह अर्थ नहीं है कि नियमितताएं होती ही नहीं या व्यापकीकरण (generalisation) स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सामाजिक विज्ञान संभव ही नहीं

होता। सामाजिक वैज्ञानिकों को प्रायः वास्तविक नियमितताओं और जो उनकी अपनी इच्छानुसार होना चाहिये के बीच एक ताजुक संतुलन रखना होता है। संरचना और क्रिया के बीच इस पुरातन द्वैत से सामाजिक विज्ञानों को हमेशा जूझना पड़ा है। आपका यह तर्क हो सकता है कि सामाजिकी वैज्ञानिकों द्वारा निरूपित सामान्यीकरण को जितना अधिक लागू किया जायेगा उतना ही वह विशिष्ट स्तर वाली घटनाओं की व्याख्या करने में असफल होगा। दूसरी ओर, विशिष्ट की व्याख्या के लिए सामान्यीकरण प्रायः एक अनिवार्य दशा है।

अनुभवजन्य प्रेक्षणों और व्याख्याओं को एक और समस्या से निपटना पड़ता है। जब हमारी अपनी इन्द्रियों के बोधों से परे कुछ वस्तुएं दूसरों के इन्द्रिय बोध के काफी करीब लगती हैं या कम से कम उनका ऐसा दावा होता है तो हमें क्या करना होगा? हम कैसे व्याख्या करें जब क्षेत्र में जानकारी देने वाले लोग कहें कि उनका नियमित रूप से आत्माओं से साक्षत्कार होता है या मृतात्माओं से उनकी बातचीत इस तरह होती है जैसे जीवित व्यक्तियों से होती है। उनके पति/पत्नी और बच्चे यद्यपि परलोक सिधार गये हैं परंतु उनकी मृत लोगों से कुछ लोगों की हर समय बातचीत होती है (देखें कोष्ठक 2.4 सावरा उदाहरण)।

#### कोष्ठक 2.4: सावरा उदाहरण

सावरा उड़ीसा की एक जनजाति है। सावरा लोगों में मृत और जीवित व्यक्तियों के बीच कोई विभाजन नहीं देखा जाता। उनके अनुसार उनके निवास स्थान के काफी नजदीक ही एक दूसरी जगह मृत व्यक्ति रहने चले गये हैं। वे लोग मृत लोगों से नियमित रूप से मिलते और बातचीत करते हैं। सावरा जनजाति के लोगों के लिए यह कोई समस्यामूलक बात नहीं है। वे अक्सर किसी भी व्यक्ति के बारे में बात करते हुए कहते हैं कि वह उन्हें बाजार या खेत जाते समय मिला था, लेकिन सामाजिक वैज्ञानिकों के लिए बड़ी समस्या यह होगी कि वे जिस व्यक्ति के बारे में बता रहे हैं उसकी काफी पहले मृत्यु हो चुकी है। उनके पति/पत्नी और बच्चे भी यद्यपि परलोक में होते हैं परंतु उनके साथ सावरा लोगों का संपर्क बराबर बना रहता है।

कोष्ठक 2.4 में दिए गए सावरा उदाहरण की किस तरह व्याख्या की जा सकती है? यदि हमें केवल अपनी इन्द्रियों पर विश्वास करने की 'वैज्ञानिक' तार्किकता का अनुपालन करना है तो इसकी व्याख्या करने का एकमात्र तरीका यह होगा कि हम कहें कि या तो इस संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति मतिभ्रम से पीड़ित है या झूठ बोलने का आदी है।

इसकी व्याख्या करने का दूसरा तरीका यह होगा कि यह कहा जाये कि विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्तियों की संज्ञानात्मक (cognitive) क्षमताएं भिन्न-भिन्न होती हैं और वे वास्तव में उन चीजों को देख सकते हैं जो हमें नहीं दिखाई देती। यह तरीका कुछ कुछ कास्तानेदा (1970) की व्याख्याओं के समान होगा जिन्हें अधिकांश लोगों ने नहीं माना था लेकिन अन्य कई लोगों ने मान्यता दी थी। ऐसी सामग्री की व्याख्या करने का तीसरा तरीका यह होगा कि यह कहा जाए कि दृष्टिगत और अन्य इन्द्रिय बोधों से अर्थ निकालने की सांस्कृतिक रूप से सीखी गई ऐसी युक्तियाँ हैं जो हमारी समझ से परे हैं। उदाहरणार्थ, एक पर्वतीय समुदाय के साथ काम करते समय मुझसे कहा गया कि जब एक व्यक्ति मृत्यु के समीप था तब शरीर से आत्मा के जाने का मार्ग देखने हेतु एक लामा को बुलाया गया। मैंने सहजतापूर्वक पूछा कि एक लामा यह मार्ग कैसे देख सकता है? मुझे उसी सहज विश्वास से यह उत्तर दिया गया कि वह क्यों नहीं देख सकता। इस भाँति जो बात हमें अविश्वसनीय लगती है वह दूसरों को बहुत सहज और सामान्य लग सकती है। यदि ऐसी बातें हमारी विश्वसनीयता की सीमाएं लॉघ जाएं तो क्या किया जा सकता है?

दूसरी ओर, इवान्स-प्रिचर्ड (1937) ने अज्ञान में प्रचलित जादू-टोने की प्रत्यक्षवादी व्याख्या की। उन्होंने समूचे अनुभव को प्रत्यक्षवादी रूप में लिया और इसे तार्किक प्रत्यक्षवादी तथा प्रकार्यवादी विश्लेषण के माध्यम से समझाया। उसने इस व्याख्या के दौरान अनुभवकर्ताओं के प्रकट रूप से आत्मपरक अनुभव पर ध्यान न देकर उन अनुभवों द्वारा निष्पादित व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उसने जादू-टोने को उस समाज के प्रदत्त लक्षण की तरह लेकर उस पर कोई टीका नहीं की। विश्लेषक के लिए यह बात मायने नहीं रखती कि अज्ञान को जादू-टोने के बारे में भावनात्मक या अनुभवात्मक रूप से कैसा लगा। विश्लेषक ने सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में जादू-टोने की भूमिका पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।



इवान्स-प्रिचर्ड  
(1902-1973)

कुछ अन्य उदाहरणों में आपको मिलेगा कि विश्लेषक ने इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित किया कि इन अनुभवों का अनुभवकर्ताओं के लिए क्या अर्थ है। तत्पश्चात् उसने व्यक्तिगत अनुभवों को समाज के महत्वपूर्ण तंत्रों में समेकित किया। इस दृष्टिकोण को गर्टज़ (1975) ने अपनाया है। लेकिन अधिकांश वैज्ञानिकों ने अनुभवों के सत्य और अनुभवकर्ताओं के "देखने" और "अनुभव करने" के मुद्दे को दरकिनार ही किया है।

कुछ नये विद्वानों ने शोध क्षेत्र की स्थिति में अनुभवकर्ताओं के साथ भागीदारी करने के मुद्दों को टाला नहीं है। उदाहरणतः गढ़वाल में पांडव लीला की अभिनय प्रस्तुति में भाग लेने वाले साक्स (2002) ने बताया कि नृत्य में भाग लेते समय वह एक असाधारण अनुभव की दुनिया में पहुँच गया था। संस्कृति के अध्ययन का एक और आयाम है – मौखिक व्यवहार और अमौखिक व्यवहार का सांकेतिक महत्व। संस्कृति के विद्वानों ने प्रायः संस्कृति और भाषा को बराबरी का दर्जा दिया है और अवाचनिक (non-verbal) के ऊपर वाचनिक (verbal) को इस तर्क द्वारा वरीयता दी है कि मनुष्यों का व्यवहार मौखिक संचार वाला होता है और अमौखिक व्यवहार अधिक "स्वाभाविक" होने के कारण मानव व्यवहार की अपेक्षा "पशु" जगत के व्यवहार के दायरे में आता है।

परंतु विद्वानों की एक अन्य श्रेणी जैसे इनगोल्ड (1986) और जैल (1992) ने संस्कृति को विश्व के साथ संबद्ध होने के एक तरीके के रूप में देखा है। उनके अनुसार पर्यावरण के साथ एक दूसरे पर निर्भरता से यह संबद्धता बनती है। मनुष्य अपने पर्यावरण के साथ अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप स्वयं ही अर्थ निरूपित करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारी अंतःक्रिया हमेशा पर्यावरण के सांस्कृतिक रूप से निर्मित अर्थों के हिसाब से नहीं होती है। बल्कि होता यह है कि प्रारंभिक रूप से स्वाभाविक होने वाली हमारी शारीरिक अंतःक्रियाएं पर्यावरण को अर्थ से भर देती हैं और तब वह अर्थ पर्यावरण में अंकित हो जाता है। लिखे हुए रिकॉर्डों के अभाव में, ऐसे अर्थ केवल आंशिक रूप से ही अगली पीढ़ी को हस्तांतरित किये जा सकते हैं और आंशिक रूप से ही हर बार पुनःनिर्मित होते हैं जब-जब व्यक्ति विशेष का अपने पर्यावरण से जुड़ाव होता है। इस तरह, आखेटक-संग्रहक समूह में पैदा हुए बालक-बालिकाएं जंगलों में घूम फिर कर, फल तोड़ कर और जानवर पकड़ कर अपनी क्षुधा शांत करते हुए जीवित रहने का और अपनी राह तलाशने का प्रयास करके अपने पर्यावरण के बारे में सीखता है। इस तरह के अध्ययन का एक उदाहरण है निसा : द लाइफ एंड वर्ड्स ऑफ ए कंग वुमन। इसमें एक ऐसी आखेटक-संग्रहक महिला के वास्तविक जीवन का वर्णन है जो झाड़ियों में रहती थी। शोस्ताक (1981) ने इस जीवनी को इकट्ठा किया था।

सामाजिक शोध में विविधताओं के प्रयोग करने के लंबे विवरण के बाद आइए अब अगले भाग में सामाजिक विज्ञान में शोध के मूल लक्ष्य को समझने के विषय में चर्चा करें।

## 2.11 अध्ययन के उद्देश्य को समस्या के रूप में रखना

हमें अपने अध्ययन के उद्देश्य को समस्या के रूप में रखने के लिए तैयार होना होगा। अपने अध्ययन के मूल लक्ष्य को हम कैसे समझें, संस्कृति और समाज की अवधारणा किस तरह व्यक्त करें? प्राकृतिक विज्ञानों की तरह हमारे सामने कोई ठोस वस्तु नहीं होती जिसे हम समाज या संस्कृति के रूप में देखें। हमें तो वस्तुतः अपने प्रेक्षणों और पूर्वनिर्मित



इ वी मलिनॉस्की  
(1884-1942)

धारणाओं के आधार पर अनुमान लगाना होता है। अनुमान लगाने की प्रक्रिया काफी विवादास्पद हो सकती है। उदाहरणार्थ, भौगोलिक परिभाषा द्वारा समाज को अपने अध्ययन की विषय-वस्तु बनाया जा सकता है। जैसे मलिनॉस्की (जीवन-काल 1884-1942) ने 1922 में ट्रोब्राएंड द्वीपसमूहों का एक इकाई के रूप में अध्ययन किया था। मीड (जीवन-काल 1901-1978) ने 1928 में समोआ का अध्ययन किया और रैडक्लिफ-ब्राउन (जीवन-काल 1881-1955) ने 1922 में अंडमान द्वीपसमूहों में अपना प्रमुख अनुसंधान कार्य किया। यह मानना होगा कि इन सभी मनोरम स्थलों में प्रत्येक की एक विशिष्ट संस्कृति होगी। समाज को अन्य सीमाओं

जैसे विवाह के संदर्भ में भी परिभाषित किया जा सकता है। ऐसे ही एक जाति को अंतर्जातीय विवाह की सीमाओं द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। सदस्यता के अन्य मानदंड भी हो सकते हैं। लेकिन समाज की सभी इकाइयों की ऐसी सीमाएं नहीं होती; मान लीजिए कि यदि कोई हिंदूधर्म जैसे धर्म का अध्ययन करना चाहे तो उसके सामने विशाल और असीमित क्षेत्र मौजूद होगा। कभी-कभी अध्ययन करने के लिये चुने विषय को जगह के संदर्भ में परिभाषित नहीं किया जा सकता; जैसे प्रवासी समूह का केवल एक स्थान के संदर्भ के तहत अध्ययन नहीं किया जा सकता। यदि कोई समूह स्थान विशेष से प्रतिबंधित भी हो तो यह जरूरी नहीं है कि सामाजिक तथ्य स्थान विशेष से बद्ध हो। जैसे, ग्रामीण भारत में गाँव विशेष का अध्ययन उस पर जनसंचार और राष्ट्रीय राजनीति के प्रभावों को समझे बिना नहीं किया जा सकता। सीमित दायरे में परिभाषित समाज के अस्तित्व की वास्तविकता के बारे में प्रश्न उठाए जाने का सिलसिला बढ़ता जा रहा है। शोध पद्धति की पुरानी अवधारणा की जगह अब बहु-स्थलीय (multi-sited) नृजातिशास्त्र (ethnographics) विवरण और तंत्रव्यवस्था (networks) की अवधारणा है।

प्रायः समाज शब्द को एक वस्तुपरक इकाई की बजाय आत्मपरक समझ लिया जाता है।



एआर रैडक्लिफ ब्राउन  
(1881-1955)

एक समुदाय या समाज एक इकाई होता है क्योंकि उस इकाई के सारे कर्ता या भागीदार उसे एक इकाई के रूप में व्यक्त करते हैं। इस अर्थ में हिंदू धर्म के अध्ययन का सरल तरीका यह होगा कि इसके लिए कोई बाह्य परिभाषा ढूँढने की बजाय उन लोगों का अध्ययन किया जाए जो स्वयं को हिंदू कहते हैं। इस प्रकार संस्कृति वह है जिसमें संसार के बारे में मानव समूह की इकाई में महत्तम संख्या में साझे प्रतिरूप मौजूद हों। प्रायः साझे प्रतिरूपों के तथ्य की मौजूदगी के कारण ऐसे समूह को समाज की संज्ञा दे दी जाती है। प्रतिरूपों की ऐसी साझेदारी या संस्कृति कठोर या शाश्वत न होकर बदलती रहती है और यत्र-तत्र प्रसारित होती है। साथ में एक स्थान से दूसरे स्थापन में प्रतिरोपित भी हो

जाती है। भारत में समाज की इकाई विशेष, जैसे युवा वर्ग, का अध्ययन करते समय संयुक्त राज्य अमरीका और जापान की विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। अवश्य ही इस स्थिति में हमें आरोपित को मूल से अलग करना होगा, लेकिन यह कार्य भी काफी जटिल सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसको करते समय हमें

दुनिया के अन्य समाजों के बारे में व्याख्याओं और विचारों के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखना होगा।

अधिक पारंपरिक अर्थ में, एन्थनी गिडन्स (1984: 163) ने द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ सोसाइटी में समाज की अवधारणा के निम्नलिखित दो प्रमुख भावों का उल्लेख किया है।

- i) सामाजिक संबंध या परस्परक्रिया का व्यापक गुणार्थ (सामाजिक कर्ताओं के बीच परस्परक्रिया के विन्यास या तंत्रव्यवस्था के बारे में कक्षाओं में दी गई यह आदर्श परिभाषा है)
- ii) स्वयं को अन्य प्रणालियों से अलग करती हुई अंतःनिर्भरता की प्रणाली से बनी सामाजिक संबंधों की अपेक्षाकृत सीमित इकाई (यह वह तरीका था जिसमें प्राचीन ग्रीक व लैटिन युगीन समय में समाजों में अंतर किया जाता था। लेकिन आज ऐसी सीमित इकाइयों को ढूँढ पाना और परिभाषित करना मुश्किल है और अब तो यह माना जाने लगता है कि ऐसी इकाइयाँ केवल नृशास्त्री की कोरी कल्पना रही होंगी।)

अध्ययन के लिए समाज के रूप में परिभाषित की जाने वाली इकाई को ढूँढने का प्रयास करते समय सामाजिक विज्ञानी को किन बातों का ध्यान रखना होगा? या तो भाषायी बोध की सीमाओं को लें ताकि अध्ययन की इकाई संस्कृति के समानार्थी बन जाए या अध्ययन की इकाई स्वतः परिभाषित जनजाति हो सकती है या कोई जाति अथवा गाँव विशेष जैसी भौगोलिक इकाई भी हो सकती है।

समाज को समस्या की तरह समझ पाने में दुर्खाइम (1964: 4) की तरह व्यक्ति से समाज को अलग करना हमारी मदद करता है। सामाजिक वैज्ञानिकों को शोध क्षेत्र में समाज का नहीं बल्कि व्यक्तियों का प्रेक्षण करना होता है और उनके साथ अंतःक्रिया करनी होती है। यदि विश्लेषणात्मक रूप से व्यक्ति को समाज के विपरीत देखा जाता है तो अपने जाँच-परिणामों का अर्थ निकालने के लिए सामाजिक वैज्ञानिकों को कर्ताओं को तो पूरी तरह उपेक्षित करना होगा और अमूर्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा संरचना के बारे में अपना ही प्रतिरूप बनाना होगा। लेकिन यदि समाज सिद्धांत बनाने की प्रक्रिया का उत्पाद है तो अन्य सभी सिद्धांतों की भाँति इसकी रचना भी देश-काल के संदर्भ में करनी होगी। तब समाज क्या है – यह भी शक्ति के नियमों से संचालित सामाजिक क्रिया बन जाता है। उदाहरण के लिए देखें कि कैसे उपनिवेशकाल में प्रशासकों ने भारत के सामाजिक विशिष्ट वर्गों जैसे ब्राह्मणों और शासकों की सहायता से भारतीय समाज को परिभाषित किया था। भारतीय समाज और इतिहास का जो प्रतिरूप इस तरह निर्मित हुआ उसमें ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता दोनों को वरीयता मिली। असंगति यह है कि ऐसी संरचना न केवल अमूर्त होती है बल्कि यदि इन्हें शक्ति के स्रोतों द्वारा बनाया गया हो तो यह सचमुच ही ठोस रूप ले लेती है। सामाजिक इतिहासकारों ने दिखाया है कि उपनिवेशी शासन ने भारतीय समाज को अपनी कल्पना वाले रूप में ही पुनःनिर्मित कर लिया। परंतु इस पुनःनिर्माण के बावजूद भारतीय समाज की ऐसी वास्तविकता भी थी जो सरकारी विवरण का हिस्सा कभी नहीं बनी। काफी बाद में सब-ऑल्टर्न इतिहासकारों ने इस इतिहास को पुनःनिर्मित करने का प्रयास किया।

## 2.12 निष्कर्ष

एकत्रित सामग्री का अर्थ निकालने का प्रयास करते समय सामने आने वाली विविध समस्याओं पर विचार करते हुए, समाज और संस्कृति के संदर्भ में बार-बार हमें अनुभवजन्य यथार्थ की अलंघ्यता (sanctity) पर लौटना पड़ता है। सबसे अधिक उलझन व्यक्ति और समाज के बीच संबंध को समझने में व्याप्त है। हमारे लिए सैद्धांतिक विषमता यह रहती है कि हम व्यक्ति के ऊपर समाज के अस्तित्व को मंजूरी देने वाली प्रत्यक्षवादी विचारधारा

को स्वीकारें या आत्मपरक उत्तर आधुनिकतावादी व्याख्या के तहत दोनों को मिला दें। मूलपाठ में यथार्थ का निरूपण आता है या प्रेक्षक तथा जिसका प्रेक्षण किया जा रहा है के बीच आत्मपरक अंतःक्रिया आती है - इस विषय पर वाद-विवाद ही चल रहा है।

यदि हम मानें कि समस्त यथार्थ व्याख्यात्मक है और आत्मपरक चिंतन (reflexivity) का एक रूप है तो भी सामग्री के सफल प्रस्तुतीकरण के लिए निर्देश प्रतिरूप की सच्चाई पर आकर टिकेगा। वस्तुतः आत्मपरक चिंतन वाले दृष्टिकोण के समर्थकों का प्रत्यक्षवादियों पर यह आरोप है कि प्रत्यक्षवादी सामग्री का व्यवस्थीकरण करते समय अपने खुद के नियमों को थोपते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर बड़ी सफाई से अलग-अलग खानों में सजा दिया जाता है। जबकि यथार्थ कभी भी इतना नहीं साफ-सुथरा होता। नियमितताओं और व्यवस्थित विन्यासों की बात करने वाले विद्वानों ने अनियमितता की वैधता को नज़रअंदाज कर दिया था। वस्तुतः नियमित और अनियमित की परिभाषाएं प्रेक्षक की पूर्वकल्पित धारणाओं के अनुकूल बना ली गई थीं। अंत में कुछ चुनी हुई सामग्री के आधार पर व्यवस्थित रूप से वैध बनाए प्रेक्षक के परिप्रेक्ष्य ही सामने उभर कर आए। फॉस्टर (1965) ने यूकाटान के गाँव का पुनःअध्ययन करते हुए रॉबर्ट रैडफील्ड पर यह आरोप लगाया कि उसने वहाँ सामंजस्य और सामाजिक व्यवस्था देखी जबकि यथार्थ में वह गाँव संदेह, असामंजस्य और अप्रकट संघर्ष से ओत-प्रोत था।



राबर्ट रैडफील्ड  
(1897-1958)

शोधकारों के पास एकमात्र तरीका यह है कि जितना संभव हो वे प्रेक्षित यथार्थ के करीब रहें और सामग्री के व्याख्याकार के रूप में नहीं बल्कि एक मध्यस्थ के रूप में कार्य करें। नई वर्तमान पीढ़ी के सामाजिक वैज्ञानिकों ने विशेष रूप से जिनका शोध क्षेत्रीय यथार्थ पर आधारित है, अपनी शैली में अधिक से अधिक वर्णनात्मक (narrative) विधा का प्रयोग किया है और इस भाँति उनकी भूमिका अपने क्षेत्र के लोगों की ओर से बोलने वालों की है। सर्वोत्तम विधि है कि यह माना जाये कि क्षेत्र में लोगों के पास वास्तविक जानकारी है न कि व्याख्याकारों के पास। आखिरकार संसार में गतिशील होने के लिये ज़रूरी अंतःक्रियाओं के परिणामस्वरूप ही लोगों के द्वारा समाज का निर्माण किया जा है। दुर्खाइम द्वारा निरूपित कर्ता और समाज के बीच पारस्परिक संवाद अब प्रायः वैध नहीं माना जाता क्योंकि समाज को अब साझे प्रतिरूपों के व्यवस्थित और प्रतिबंधित यथार्थ के रूप में नहीं देखा जाता, जैसा कि पहले जमाने के प्रत्यक्षवादी विद्वानों द्वारा माना जाता था।

अब यह प्रयास भी किया जाता है कि वस्तुओं को केवल उस रूप में न देखा जाए जैसी वे हैं बल्कि यह भी विचार किया जाए कि वे ऐसी कैसे हुईं। अतः सामाजिक विज्ञान की व्याख्याओं एवं शक्ति संबंधों और उनकी संरचना को समझने में इतिहास की अहम भूमिका हो गई है। शक्ति संबंधों का अध्ययन करने का एक हिस्सा शोधकार की अपनी अवस्थिति (location) भी है। जहाँ से उसे दुनिया को देखना है और अपने शोध के बारे में बोलना-लिखना है। यह दिन-ब-दिन ज़्यादा महसूस किया जा रहा था कि शोधकार तो केवल 'गोरी चमड़ी के' और 'पुरुष' ही होगा। इस तरह के महिला वर्ग के एवं काले वर्ण वाले शोधकारों को "अन्य" की श्रेणी में डाल दिया गया। अनेकों नृजातिशास्त्रविवरणों में "मैं" शब्द हमेशा पुरुष और 'गोरी चमड़ी वाले शोधकार और उसकी पाश्चात्य' वैज्ञानिक तार्किकता की छवि सामने लाया। उदाहरण के लिए, लगभग सभी पुरुष, श्वेत शोधकारों ने विश्व को पितृसत्तात्मक और पुरुष प्रधान माना जबकि महिला शोधकारों ने दुनिया को विपरीत संस्कृतियों वाला माना, जहाँ पुरुष प्रभुत्व का मुकाबला करने और अपनी ताकतों और आवाज़ों का प्रदर्शन करने के उनके अपने तरीके और विधाएँ थीं। प्रतिकूल रूप से, पुरुष

शोधकारों ने अक्सर उत्पीड़न के उन रूपों और तरीकों को नहीं देखा जो महिला शोधकारों को दिखाई दिये। यहाँ हमने सोचें और करें 2.2 के अभ्यास में केवल एक उदाहरण लिया है। अन्य उदाहरणों में दूसरे परिप्रेक्ष्य भी हो सकते हैं जैसे जाति प्रणाली का नीचे की ओर से अध्ययन, काली महिलाओं के नजरिये से महिलावाद का अध्ययन, देशी विद्वानों द्वारा देशी समाजों के अध्ययन आदि।

आइए, इस इकाई में अपनी चर्चा का समापन करते हुए सोचें और करें 2.2 अभ्यास को पूरा करें और शोधकार और शोध की गई सामग्री के बीच अंतरों से निपटने के तरीकों की जाँच परख करें।

### सोचें और करें 2.2

कार्लेकर (2004: 378-379) के लेख से लिये गया निम्नलिखित उद्धरण महिलाओं की आवाजों के लिये खोज के विषय पर है। इस उद्धरण को पढ़िए। भारतीय समाज में सामाजिक रूप से उदात्त समूह पर शोध करने की अपनी संभावना पर भी विचार कीजिए। यदि आपने ऐसा शोध किया तो उस स्थिति में आपको व्यक्तिगत स्तर पर और सामाजिक विज्ञान की शोध पद्धति के पूर्वाग्रहों के स्तर पर अपने लिंग/ वर्ग/ जाति वाली सामाजिक प्रस्थिति के बीच अंतरों का सामना करने के असमंजस और उसके परिणामस्वरूप होने वाली व्याकुलता की भावना का सामना कैसे करना होगा? इस प्रश्न का उत्तर कागज की एक अलग शीट पर लिखिए और निम्नलिखित उद्धरण में उठाए गए मुद्दों के बारे में अपने अध्ययन केंद्र में सहपाठियों के साथ विचार विमर्श कीजिये।

#### कार्लेकर के लेख से उद्धरण (2004: 378-379)

जब क्षेत्रकार्य के अंत में मैंने अपनी उत्तरदाताओं (respondents) से कहा कि उन्होंने मेरी बहुत मदद की है तो मेरी घनिष्ठ मित्र बन गई शांता ने कहा कि "बीबीजी, आप तो अपनी किताब लिखेंगी, पर हमारा क्या होगा"? मेरे पास शांता को देने के लिए कोई सच्चा उत्तर नहीं था। इसी प्रकार मैं सचमुच ही अनेकों महिलाओं के बार बार पूछे गए इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रही थी कि "बीबीजी, हमें इससे क्या मिलेगा?... कॉलोनी में जाने के दौरान मैंने खुद को इन तकलीफदेह प्रश्नों के बारे में अधिक सोचने-विचारने से दूर रखा था।

जब मैं अपनी रिपोर्ट लिखने बैठी तो मेरे दिमाग में अनेकों आकृतियाँ उभरने लगीं। मुझे इस बारे में कभी भी स्पष्टता नहीं हो पाई थी कि जिन महिलाओं के साथ मैंने इतने दिन गुज़ारे हैं उनकी जिन्दगियों के बारे में मैं किस तरह लिखूँ। यह मैं जानती थी कि मैं जो भी लिखूँगी वह व्याख्यात्मक होगा। परंतु मैं इस बारे में भी कुछ कम चिंतातुर नहीं थी कि मुझे अपनी उत्तरदाताओं की वास्तविकता के बारे में यथासंभव 'सच' कहना चाहिए। मैं यह भी जानती थी कि जिन महिलाओं का अध्ययन किया जा रहा है, समाज और पुरुषों द्वारा शारीरिक और मानसिक रूप से उनका दमन होता रहा है। एक क्षेत्रीय शोधकार के हस्तक्षेप और जाँच-पड़ताल में नैतिक अधिस्वर का एक अलग ही प्रकार का प्रभाव होता है। अनजाने में, शोधकार ने महिलाओं के इस समूह में आत्म-विश्लेषण और चेतना जागृत करने की प्रक्रिया शुरू कर दी परंतु इन महिलाओं को अपने दैनिक जीवन की बेड़ियों से मुक्त होने की आशा बहुत कम है। इसके परिणामस्वरूप पैदा होने वाले असंतोष, कुंठा और आक्रोश का दायित्व सीधे रूप से शोधकार के कंधे पर आता है और इस तरह शोधकार भी शोषण का एजेंट ही बन जाता है।

## 2.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**Glaser, Barney and L. Anselm 1968. *The Discovery of Grounded Theory*. Weidenfeld & Nicolson: London (For its focus on developing theory in the process of doing research)**

**Winch, Peter 1958. *The Idea of Social Science*. Routledge: London (For its argument regarding subjectivist version of what social science should be about)**